३२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा—तत्त्वार्थसूत्र ७/८
३३. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ७, पृष्ठ १२३१
३४. उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्॥
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः।।
— महाभारत शान्तिपर्व १५/२५-२६।
३५. अज्झत्थ विसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगंत्त जिणेहिंतिलोयदरिसीहिं।। —ओघ निर्युक्ति, ७४७।
३६. समणोवागस्सणंभते। पुव्वामेव तस पाण समारम्भे पच्चखाए भवई, पुढवीं समारम्भे ण पच्चखाए भवइ, से य पुढवि खणमाणे अण्णयरं तसपाणं विहिंसेज्जा सेणं भंते तं वयं अतिचरित? नो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस अइवायाए आउट्टई। —भगवती ७/१
३७. उच्चालियंमि पाए, ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज।
न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा।।
—ओघनिर्युक्ति ७४८-४९
३८. जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होई निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स।।
— ओघनिर्युक्ति ५५९।
३९. जे य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोग पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होई।।
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा।।
—ओघनिर्युक्ति ७५२-५३।
४०. न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई। —ओघनिर्युक्ति ७५८
४१. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्सणिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स नत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।। —प्रवचनसार २१७
४२. युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावशमन्तरेणाऽपि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४५
४३. सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति।
एवं असति पाणातिवाए पम्मत्ताए वहगो भवति।।
—निशीथचूर्णि ९२।
४४. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृष्ठ ४१४
४५. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। —गीता १८/१७
४६. मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिधो याति ब्राह्मणो। —धम्मपद २९४

भगवान् महावीर का अपरिग्रह-सिद्धान्त और उसकी उपादेयता

संग्रहवृत्ति का उद्भव एवं विकास

अपरिग्रह का प्रश्न सम्पत्ति के स्वामित्व से जुड़ा हुआ है और सम्पत्ति की अवधारणा का विकास मानव जाति के विकास का सहगामी है। मानव इस पृथ्वी पर कैसे और कब अस्तित्व में आया? यह प्रश्न आज भी वैज्ञानिकों के लिए एक गूढ़ पहेली बना हुआ है। विकासवादी दार्शनिक मानव-सृष्टि को विकास की प्रक्रिया का ही एक अंग मानते हैं और अमीबा जैसे एक कोषीय प्राणी से प्राणियों की विभिन्न जातियों की विकास प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्य की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, जबकि जैन दर्शन सृष्टि को आरोह और अवरोह की एक सतत प्रक्रिया (कन्टीन्यूइंग प्रोसेस) बताता है और मानव जाति के अस्तित्व को भी इस आरोह और अवरोह-क्रम के सन्दर्भ में ही विवेचित करता है। फिर भी नृतत्वविज्ञान, विकासवादी दर्शन और जैन दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मानव की वर्तमान सभ्यता का विकास उसके प्राकृतिक जीवन से हुआ है। एक समय था जबकि मनुष्य विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक जीवन जीता था और प्रकृति भी इतनी समृद्ध थी कि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न तो कोई विशिष्ट श्रम करना होता था और न संग्रह ही। अतः उस युग में परिग्रह का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था क्योंकि उस युग में न तो सम्पत्ति ही थी और न उसके स्वामित्व का विचार ही था। मानव उदार प्रकृति की गोद में पलता और पोषित होता था। जैन परम्परा में इसे यौगलिक युग (अकर्म-युग) कहा जाता है। साम्यवादी विचारधारा की दृष्टि से यह प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Socialism) की अवस्था थी। सामान्यतया इस युग में मानव की आकांक्षायें इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं थीं, और एक दृष्टि से वह सुखी और सन्तुष्ट था।

किन्तु धीरे-धीरे एक ओर जनसंख्या बढ़ी तथा दूसरी ओर प्रकृति की समृद्धिता कम होने लगी; अतः जीवन जीना जटिल होने लगा, यहीं से श्रम की उद्भावना हुई। जैन-परम्परा के अनुसार ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने मानव जाति को कृषि की शिक्षा दी। कृषि में जहाँ एक ओर मानव-श्रम लगने लगा वहीं दूसरी ओर उस श्रम के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अन्न-सामग्री के संचयन और स्वामित्व का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। वस्तुतः कृषि से उत्पन्न सामग्री ऐसी नहीं, जो वर्ष में हर समय सुलभ हो सके, केवल वर्षा पर आश्रित वह कृषि नियत समय पर ही अपनी उपज दे पाती थी और इसलिए सम्पूर्ण वर्ष भर के लिये अन्न का संचयन आवश्यक था। जीवन-रक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये संचयन की इस वृत्ति से परिग्रह का विचार विकसित हुआ है। मनुष्य की यह संग्रह वृत्ति कृषि-उत्पादन के संचयन और स्वामित्व तक ही सीमित नहीं रही अपितु कृषि-भूमि और कृषि में सहयोगी पशुओं के स्वामित्व का प्रश्न भी सामने आया। हो सकता है कि कुछ समय तक मानव ने समूह के सामूहिक स्वामित्व की धारणा के आधार पर कार्य चलाया हो, किन्तु संचयन और स्वामित्व की वृत्ति के परिणामस्वरूप स्वार्थ का उद्भव स्वाभाविक ही था। मानव की इस स्वामित्व की भूख और स्वार्थ-लिप्सा ने सामन्तवाद को जन्म दिया। राज्य एवं उनके स्वामी राजा, महाराजा और सामन्त अस्तित्व में आये और परिणाम स्वरूप मानव जाति स्वामी और दास वर्ग में विभाजित हो गई। मानव के शोषण-पीड़न और अत्याचार के एक नये युग का सूत्रपात हुआ। भगवान् ऋषभ के द्वारा प्रवर्तित वही कृषि-क्रांति जो मानव जाति की सुख-सुविधा और शांति का संदेश लेकर आयी थी, भगवान महावीर के युग तक आते-आते स्वार्थलिप्सा से युक्त हाथों में पहुँचकर न केवल मानव जाति में दास और स्वामी का, तथा शोषित और शोषक का वर्ग भेद खड़ा कर रही थी, अपितु मानव समाज के एक बहुत बड़े भाग के संताप और पीड़ा का कारण भी बन गई थी।

महावीर के युग की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

भगवान् महावीर के युग में तत्कालीन समाज-व्यवस्था कैसी थी? उसमें आर्थिक वैषम्य-जन्य द्वेष, ईर्ष्या, शोषण और पीड़न आदि विद्यमान थे या नहीं? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न कई विचारकों के सम्मुख है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था का जो चित्र जैन आगमों में विद्यमान है, उससे यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि उस युग में भी आर्थिक-विषमता और तज्जन्य द्वेष, ईर्ष्या आदि सब कुछ थे। तत्कालीन समाज-व्यवस्था का जो शब्द-चित्र लगभग २५०० वर्ष के पश्चात् आज भी उपलब्ध है, उससे यह कहा जा सकता है कि उस समय समाज के सदस्यों में संग्रहवृत्ति भी थी। इस कारण जहाँ तक एक व्यक्ति बहुत अधिक धनी था वहाँ दूसरा व्यक्ति अत्यधिक अभावग्रस्त था। एक ओर शालिभद्र जैसे श्रेष्ठि थे तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक। बड़े-बड़े सामन्त और सेठ अपने यहाँ नौकर-चाकर रखते थे, केवल यही नहीं अपितु दास-प्रथा तक विद्यमान थी। डॉ० जगदीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" में 'ऋणदास', दुर्भिक्षदास आदि का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि इस प्रकार के दासों की मुक्ति किस प्रकार हुआ करती थी? तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज-व्यवस्था में अर्थ के सद्भाव तथा अभाव (Haves and Haves not) की समस्या थी। निश्चित रूप में इस कारण विषमता, द्वेष, ईर्ष्या सब हुआ करती होगी। यदि हम जैन आगम उपासकदशांग' का अवलोकन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायेगा कि कुछ लोगों के पास कितनी प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति थी। केवल यही नहीं, अपितु धन के उत्पादन के मुख्य साधन (भूमि, श्रम, पूंजी एवं प्रबन्ध) पर उनका अधिकार (चाहे एकाधिकार न हो) था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस युग में एक ओर समाज के कुछ सदस्यों के पास विपुल सम्पत्ति तथा अर्थोपार्जन के प्रमुख साधन विपुल मात्रा में थे तो दूसरी ओर कुछ लोग अभाव और गरीबी का जीवन जी रहे थे। महावीर ने समाज में उपस्थित इस आर्थिक वैषम्य के कारण की खोज की और मानव की तृष्णा को इसका मूल कारण माना।

संग्रहवृत्ति या परिग्रह का मूल-कारण 'तृष्णा'

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' में आर्थिक वैषम्य तथा तज्जनित सभी दु:खों का कारण तृष्णा की वृत्ति को माना। वे कहते हैं कि जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, उसके दु:ख भी समाप्त हो जाते हैं।[१] वस्तुत: तृष्णा का ही दूसरा नाम लोभ है और इसी लोभ से संग्रहवृत्ति का उदय होता है। 'दशवैकालिकसूत्र' में लोभ को समस्त सद्गुणों का विनाशक माना गया है। जैन विचारधारा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी दुष्पूर खाई है जिसका कभी अन्त नहीं आता। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है कि यदि सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जाए तो भी यह तृष्णा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम) है अत: सीमित साधनों से असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।[२]

वस्तुत: तृष्णा के कारण संग्रहवृत्ति का उदय होता है और यह संग्रहवृत्ति आसक्ति के रूप में बदल जाती है और यही आसक्ति परिग्रह का मूल है। 'दशवैकालिकसूत्र' के अनुसार आसक्ति ही वास्तविक परिग्रह है।[३] भारतीय ऋषियों के द्वारा अनुभूत यह सत्य आज भी उतना ही यथार्थ है, जितना कि उस युग में था जबकि इसका कथन किया गया होगा। न केवल जैन दर्शन में अपितु बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी तृष्णा को समस्त सामाजिक वैषम्य और वैयक्तिक दु:खों का मूल कारण माना गया है। क्योंकि तृष्णा से संग्रहवृत्ति उत्पन्न होती है— संग्रह शोषण को जन्म देता है और शोषण से अन्याय का चक्र चलता है। भगवान् बुद्ध का भी कहना है कि यह तृष्णा दुष्पूर है और जब तक तृष्णा नष्ट नहीं होती तब तक दु:ख भी नष्ट नहीं होता। 'धम्मपद' में वे कहते हैं कि जिसे यह विषैली नीच तृष्णा घेर लेती है उसके दु:ख उसी प्रकार बढ़ते हैं जिस प्रकार खेतों में वीरण घास बढ़ती है।[४] भगवान् बुद्ध ने इस तृष्णा को तीन प्रकार का माना है— (१) भव-तृष्णा (२) विभव-तृष्णा और (३) काम-तृष्णा। भव-तृष्णा अस्तित्व या बने रहने की है, यह राग-स्थानीय है। विभव तृष्णा समाप्त हो जाने या नष्ट हो जाने की तृष्णा है, यह द्वेषस्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है और यही परिग्रह का मूल है। गीता में भी आसक्ति को ही जागतिक दु:खों का मूल कारण माना गया है। 'गीता' में यह स्पष्ट किया गया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिये प्रेरित करता है। 'गीता' यह भी स्पष्ट रूप से कहती है कि आसक्ति में बंधा हुआ व्यक्ति काम-भोगों की पूर्ति के लिये अन्यायपूर्वक संग्रह करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन संग्रहवृत्ति के मूल कारण के रूप में तृष्णा को स्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। सन्त सुन्दरदास जी ने इस तथ्य का एक सुन्दर चित्र खींचा है। वे बताते हैं कि किस प्रकार यह तृष्णा संग्रह की उद्दाम वृत्तियों को जन्म दे देती है। वे लिखते हैं—

जो दस बीस पचास भये, शत होइ हजार तु लाख मंगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, धरापति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पताल को राज करो, तिसना अधिकी अति आग लगेगी।
'सुन्दर' एक संतोष बिना, शठ तेरी तो भूख कबहूँ न भगेगी।

पाश्चात्य विचारक महात्मा टालस्टाय ने भी How Much Land Does A Man Need नामक कहानी में एक ऐसा ही सुन्दर चित्र खींचा है। कहानी का सारांश यह है कि कथा-नायक भूमि की असीम तृष्णा के पीछे अपने जीवन को समाप्त कर देता है और उसके द्वारा उपलब्ध किये गये विस्तृत भू-भाग में केवल उसके शव को दफनाने जितना भू-भाग ही उसके उपयोग में आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव में संग्रहवृत्ति या परिग्रह की धारणा का विकास उसकी तृष्णा के कारण ही हुआ है। मनुष्य के अन्दर रही हुई तृष्णा या आसक्ति मुख्यत: दो रूपों में प्रकट होती है—(१) संग्रह भावना और (२) भोग-भावना। संग्रह-भावना और भोग-भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति का बाह्य प्रकटन निम्नलिखित तीन रूपों में होता है—(१) अपहरण (शोषण), (२) भोग और (३) संग्रह।

संग्रहवृत्ति एवं परिग्रहजन्य समस्याओं के निराकरण के उपाय

भगवान महावीर ने संग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान की दिशा में विचार करते हुए यह बताया कि संग्रहवृत्ति पाप है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। संग्रह फिर चाहे धन का हो या अन्य किसी वस्तु का, वह समाज के अन्य सदस्यों को उनके उपभोग के लाभ से वंचित कर देता है। परिग्रह या संग्रह-वृत्ति एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप बन जाता है। अहिंसा के सिद्धान्त को जीवन में उतारने के लिये जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि व्यक्ति बाह्य परिग्रह का भी विसर्जन करे। परिग्रहत्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में दिया गया प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति का सिद्धान्त, इन दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता, यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसका बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकटन होना चाहिये। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिये गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश दिया गया है। दिगम्बर जैन मुनि के अपरिग्रही जीवन का आदर्श अनासक्त दृष्टि का एक जीवित प्रमाण है। यद्यपि यह संभव है कि अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्त्व रह सकता है लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

भगवान् महावीर ने आर्थिक वैषम्य, भोग-वृत्ति और शोषण की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह का सन्देश दिया। उन्होंने बताया कि इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है (इच्छा हु आगास-समा अणंतया) और यदि व्यक्ति अपनी इच्छओं पर नियंत्रण नहीं रखे तो वह शोषक बन जाता है। अत: भगवान् महावीर ने इच्छाओं के नियंत्रण पर बल दिया। जैन-दर्शन में जिस अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है उसका एक नाम 'इच्छा-परिमाण व्रत' भी है। भगवान् महावीर ने मानव की संग्रहवृत्ति को अपरिग्रह व्रत एवं इच्छा-परिमाण व्रत के द्वारा नियन्त्रित करने का उपदेश दिया है, साथ ही उसकी भोग वासना और शोषण की वृत्ति के नियन्त्रण के लिये ब्रह्मचर्य, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान किया गया है। मनुष्य अपनी संग्रह वृत्ति को इच्छा-परिमाण व्रत के द्वारा या परिग्रह- परिमाण व्रत के द्वारा नियंत्रित करे। इस प्रकार अपनी भोग-वृत्ति एवं वासनाओं को उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत एवं ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा नियंत्रित करे, साथ ही समाज को शोषण से बचाने के लिए अस्तेय व्रत और अहिंसा व्रत का पालन करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने मानव जाति को आर्थिक वैषम्य और तज्जनित परिणामों से बचाने के लिये एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान की है। मात्र इतना ही नहीं, महावीर ने उन लोगों को जिनके पास संग्रह था, दान का उपदेश भी दिया। अभाव पीड़ित समाज के सदस्यों के प्रति व्यक्ति के दायित्व को स्पष्ट करते हुये महावीर ने श्रावक के एक आवश्यक कर्तव्यों में दान का विधान भी किया है। यद्यपि हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जैन-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शनों में दान अभावग्रस्त पर कोई अनुग्रह नहीं है अपितु उनका अधिकार है। दान के लिये संविभाग शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि जो व्यक्ति समविभाग और सम-वितरण नहीं करता, उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है।[५] ऐसा व्यक्ति पापी है। सम-विभाग और समवितरण सामाजिक न्याय एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग माने गये हैं। जब तक जीवन में समविभाग और समवितरण की वृत्ति नहीं आती है और अपने संग्रह का विसर्जन नहीं किया जाता, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नहीं होती।

संदर्भ :

१. उत्तराध्ययन, ३२/८।
२. उत्तराध्ययन, ९/४८।
३. दशवैकालिक, ६/२१।
४. धम्मपद, ३३५।
५. उत्तराध्ययन सूत्र १७/११, प्रश्न व्याकरण २/३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org